# सकारात्मक अहिंसा की भूमिका

*- प्रो. सागरमल जैन*

अहिंसा की अवधारणा बीज रूप मे सभी धर्मों में पायी जाती है। यहाँ तक कि यज्ञ-याग एवं पशु बलि के समर्थक वैदिक और यहूदी धर्म-ग्रन्थों में भी अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। चाहे ऋग्वेद में 'पुमान पुमांस परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद, 6/75/14) के रूप में एक-दूसरे के संरक्षण की बात कही गयी हो अथवा यजुर्वेद में इससे भी एक कदम आगे बढ़कर 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद, 36.19) के रूप में सभी प्राणियों के प्रति मित्रभाव की कामना की गई हो, फिर भी वैदिक धर्म में पशुबलि न केवल प्रचलित ही रही, अपितु 'वैदिकी हिंसा न भवति' कहकर उसका समर्थन भी किया गया। इसी प्रकार यहूदी धर्मग्रन्थ Old-Testament में भी 10 आज्ञाओं के रूप में Thou Shalt not Kill 'तुम किसी की हत्या मत करो' का आदेश है। फिर भी उनके इस आदेश का अर्थ वही नहीं माना जा सकता है, जो जैन परम्परा में 'सव्वे सत्ता न हंतव्वा' का है। यहाँ हमें स्पष्ट रूप से यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसक चेतना का विकास या अहिंसा शब्द के अर्थ का विस्तार एक क्रम में हुआ है। शाब्दिक दृष्टि से "Thou Shalt not Kill" और "सव्वे सत्ता ण हंतव्वा"-- दोनों आदेशों का अर्थ यही है कि 'तुम हिंसा मत करो।' किन्तु इन आदेशों की जो व्याख्या यहूदी धर्म और जैन धर्म में की गई, वह भिन्न ही रही है। एक यहूदी के लिए इस आदेश का अर्थ स्वजातीय या स्वधर्मी बन्धु की हिंसा नहीं करने तक सीमित है। जबकि एक जैन के लिए उस आदेश का अर्थ है न केवल किसी प्राणी की, अपितु पृथ्वी, जल, वायु आदि की भी हिंसा न करने तक व्यापक है। इस प्रकार जैन और यहूदी परम्पराओं में इन आदेशों का जो अर्थ विकास हुआ है वह भिन्न-भिन्न है। यहाँ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसा के अर्थ विकास की यह यात्रा किसी एक कालक्रम न होकर मानवजाति के विभिन्न वर्गों में सामाजिक चेतना एवं जीवन के विविध रूपों के प्रति संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो वर्ग या समाज जीवन के विविध रूपों के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना, उसने अहिंसा के अर्थ को उतना ही व्यापक अर्थ दिया। अहिंसा का यह अर्थ विकास भी एक आयामी न होकर त्रि-आयामी है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य के हत्या के निषेध से प्रारम्भ होकर षट्जीवनिकाय, जिसमें जल, वायु, वनस्पति आदि भी सम्मिलित हैं, की हिंसा के निषेध तक इसने अपना अर्थ विस्तार पाया तो दूसरी ओर प्राण-वियोजन, अंग-छेदन, ताडन-तर्जन, बन्धन आदि के बाह्य रूप से लेकर द्वेष, दुर्भावना और असजगता के आन्तरिक रूपों तक इसने गहराई में प्रवेश किया और यह माना गया कि द्वेष, दुर्भावना एवं असजगता भी हिंसा है, चाहे उनसे बाह्य रूप में प्राण-वियोजन की क्रिया घटित हुई हो या नहीं। तीसरी ओर हिंसा मत करो के निषेधात्मक रूप से लेकर करुणा, जीवन-रक्षण और सहयोग के विधायक अर्थ तक इसने अपनी यात्रा की।

प्रस्तुत परिचर्चा में हमारा मुख्य प्रतिपाद्य दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का वह सकारात्मक पक्ष है जो दूसरों के जीवन-रक्षण के एवं उनके जीवन को कष्ट और पीड़ाओं से बचाने के प्रयत्नों के रूप में हमारे सामने आता है। यह सत्य है कि अहिंसा (Non-violence) शब्द अपने आप में निषेधात्मक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ हिंसा मत करो तक ही सीमित होता प्रतीत होता है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के जो साठ पर्यायवाची नाम दिये गये हैं, उन साठ नामों सम्भवतः दो-तीन को छोड़कर शेष सभी उसके सकारात्मक या विधायक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। उसमें अहिंसा के पर्यायवाची साठ निम्न नाम वर्णित हैं-- 1. निर्वाण, 2. निवृत्ति, 3. समाधि, 4. शान्ति, 5. कीर्ति, 6. कान्ति, 7. प्रेम, 8. वैराग्य, 9. श्रुतांग, 10. तृप्ति, 11. दया, 12. विमुक्ति, 13. क्षान्ति, 14. सम्यक्आराधना, 15. महती, 16. बोधि, 17. बुद्धि, 18. धृति, 19. समृद्धि, 20. ऋद्धि, 21. वृद्धि, 22. स्थिति (धारक), 23. पुष्टि (पोषक), 24. नन्द (आनन्द), 25. भद्रा, 26. विशुद्धि, 27. लब्धि, 28. विशेष दृष्टि, 29. कल्याण, 30. मंगल, 31. प्रमोद, 32. विभूति, 33. रक्षा, 34. शील, 40. संयम, 41. शीलपरिग्रह, 42. संवर, 43. गुप्ति, 44. व्यवसाय, 45. उत्सव, 46. यज्ञ, 47. आयतन, 48. यतन, 49. अप्रमाद, 50. आश्वासन, 51. विश्वास, 52. अभय, 53. सर्व अमाघात (किसी को न मारना), 54. चोक्ष (स्वच्छ), 55. पवित्र, 56. शुचि, 57. पूता या पूजा, 58. विमल, 59. प्रभात और 60. निर्मलतर [प्रश्नव्याकरण, सूत्र 2/1/21]

इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक दृष्टि को लेकर उपस्थित होता है। उसके अनुसार सभी सद्गुण अहिंसा में निहित है और अहिंसा एक मात्र नहीं सद्गुण है, अपितु सद्गुण-समूह की सूचक है।

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है। यह अहिंसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिंसा का त्याग मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों को स्पर्श नहीं करती। वह आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कही जा सकती। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य हिंसा नहीं करना है, यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैनधर्म अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तब सीमित रही है। जैन-दर्शन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त शाब्दिक दृष्टि से चाहे नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है। अहिंसा सकारात्मक है इसका एक प्रमाण यह है कि जैनधर्म में अहिंसा के पर्यायवाची शब्द के रूप में "अनुकम्पा" का प्रयोग हुआ है। अनुकम्पा शब्द जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसमें सम्यकत्व के एक अंग के रूप में भी अनुकम्पा का उल्लेख हुआ है। अनुकम्पा शब्द मूलतः दो शब्दों से मिलकर बना है -- अनु+कम्पन्। "अनु" शब्द के विविध अर्थों में एक अर्थ है -- साथ-साथ अथवा सहगामी रूप से और कम्पन् शब्द अनुभूति एवं चेष्टा का सूचक है। "अभिधान राजेन्द्राकेश" में अनुकम्पा शब्द की व्याख्या में कहा गया है -- "अनुरूपं कम्पतै चैष्टतः इति अनुकम्पतः"। वस्तुतः अनुकम्पा पर-पीड़ा का स्व-संवेदन है, दूसरों की पीड़ा या दुःख की समानानुभूति है। उसी में अनुकम्पा को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि पक्षपात अर्थात् रागभाव से रहित होकर दुःखी-प्राणियों की पीड़ा को, उनके दुःख को समाप्त करने की इच्छा ही अनुकम्पा है। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा की अवधारणा के साथ अनुकम्पा जुड़ी हुई है तो फिर उसे मात्र निषेध परक मानना एक भ्रान्ति है। अनुकम्पा एक विधायक शब्द है। जो लोग अनुकम्पा को मात्र निषेधपरक मानते हैं वे भ्रान्ति में हैं। अनुकम्पा में न केवल दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन होता है अपितु उसके निराकरण का सहस निःस्वार्थ प्रयत्न भी होते हैं। जब दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाय तो यह असम्भव है कि उसके निराकरण का कोई प्रयत्न न हो। वस्तुतः जीवन में जब तक अनुकम्पा का हृदय नहीं होता तब तक सम्यक्-दर्शन भी सम्भव नहीं है। दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा के समतुल्य तभी हो सकती है जब हम उसका स्व-संवेदन करें। वस्तुतः दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन ही वह स्रोत है जहाँ से सम्यक्-दर्शन का प्रकटन होता है और सकारात्मक अहिंसा अर्थात् पर-पीड़ा के निराकरणार्थ सेवा की पावना गंगा प्रवाहित होती है। सर्वत्र आत्मभाव मूलक करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। वस्तुतः "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एवं जीवन के विविध रूपों के प्रति संवेदनशीलता की भावना को जब हम अहिंसा का तार्किक का आधार मानते हैं तो उसका अर्थ एक दूसरा रूप लेता है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एवं सहानुभूति के संयोग में अहिंसा का एक सकारात्मक पक्ष सामने आता है। अहिंसा का अर्थ मात्र किसी को पीड़ा या दुःख देना ही नहीं है, अपितु उसका अर्थ, "दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न" भी है। यदि मैं अपनी करुणा को इतना सीमित बना लूँ कि मैं किसी को पीड़ा नहीं पहुचाऊँगा तो वह सही अर्थ में करुणा नहीं होगी। करुणा का अर्थ है दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा के रूप में देखना। जब दूसरों की पीड़ा मेरी अपनी पीड़ा बन जाती है तो फिर उस पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न भी प्रस्फुटित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह प्रतिज्ञा कर ले कि मैं किसी की हिंसा नहीं करूँगा, किसी को कष्ट नहीं दूँगा और चाहे वह यथार्थ में इसका पालन भी करता हो, लेकिन यदि वह दूसरों की पीड़ा से द्रवीभूत होकर उनकी पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है, तो वह निष्ठुर ही कहलायेगा। वस्तुतः जब "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि संवेदनशीलता की मनोभूमिका पर स्थित होती है तो दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाती है। वस्तुतः अहिंसा का आधार मात्र तार्किक-विवेक नहीं है, अपितु भावनात्मक-विवेक है। भावनात्मक विवेक में दूसरों की पीड़ा अपनी पीड़ा होती है और जिस प्रकार अपनी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न सहजरूप से होते हैं, उसी प्रकार दूसरों की पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न भी सहज रूप में अभिव्यक्त होते हैं। दूसरों की पीड़ाओं को दूर करने के इसी सहज प्रयत्न में अहिंसा का सकारात्मक पक्ष सन्निहित है।

यदि अहिंसा में से उसका यह सकारात्मक पक्ष अलग कर दिया जाता है तो अहिंसा का हृदय ही शून्य हो जाता है। मिसेस स्टीवेन्शन ने जैन अहिंसा को जो हृदय शून्य बताया है उसके पीछे उनकी यही दृष्टि रही है। ( The Heart of Jainism, p. 296 ) यद्यपि यह उनकी भ्रान्ति ही थी, क्योंकि उन्होंने जैनधर्म में निहित अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को, जो न केवल सिद्धान्त में अपितु व्यवहार में भी आज तक जीवित है, देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। उन्होंने मात्र अपने काल के सम्प्रदाय-विशेष के कुछ जैन मुनियों के आचार, व्यवहार और उपदेश के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाल लिया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष की प्रमुखता के आगमिक आधार**

यह सत्य है कि श्रमण परम्परा ने और विशेष रूप से जैनधर्म ने अहिंसा के अर्थ-विस्तार को एक व्यापकता प्रदान की है। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि इस अहिंसा के अर्थ-विस्तार के साथ अनेक दार्शनिक समस्यायें भी उत्पन्न हुई। अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार करते हुए जब एक ओर यह मान लिया गया कि जीवन के किसी भी रूप को दुःख या पीड़ा देना अथवा उसके अहित और अकल्याण का चिन्तन करना हिंसा है, साथ ही दूसरी ओर यह भी स्वीकार कर लिया गया कि न केवल मनुष्य-जगत, पशु-जगत और वनस्पति-जगत में जीवन है, अपितु पथ्वी, जल, वायु आदि भी जीवन-युक्त है, तो यह समस्या उत्पन्न हुई कि जब जीवन के एक रूप के अस्तित्व के लिए उसके दूसरे रूपों का विनाश या हिंसा अपरिहार्य हो तो ऐसी स्थिति में चुनाव हिंसा और अहिंसा के बीच न करके दो हिंसाओं के बीच ही करना पड़ेगा? जिन चिन्तकों ने जीवन के सभी रूपों को समान मूल्य और महत्त्व का समझा, उन्हें अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा करनी पड़ी। क्योंकि सकारात्मक अहिंसा अर्थात् सेवा, दान, परोपकार आदि की सभी क्रियाएँ प्रवृत्त्यात्मक हैं और प्रवृत्ति जैन पारिभाषिक शब्दावली में योग चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो उसमें कहीं न कहीं हिंसा/आस्रव का तत्त्व तो होता ही है। यदि हम प्रवृत्ति के पूर्ण निषेध को ही साधना का लक्ष्य मानें, तो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से अहिंसा की अवधारणा निषेधमूलक होगी। ज्ञातव्य है कि उन सभी धर्मों के लिए जिन्होंने पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति आदि में जीवन ही नहीं माना अथवा यह मान लिया कि जीवन के ये विविधरूप समान मूल्य या महत्त्व के नहीं है अथवा यह कि परमात्मा ने जीवन के इन दूसरे रूपों को मनुष्य के उपयोग के लिए ही बनाया है, उन्हें अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आई। समस्या केवल उनके लिए थी, जो जीवन के इन विविध रूपों को समान मूल्य या महत्त्व का मान रहे थे।

यह सत्य है कि जैन परम्परा में निवृत्ति और जीवन के विविध रूपों की समानता पर पर अधिक बल दिया गया और परिणामस्वरूप जैनधर्म में अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष अधिक प्रमुख बना। विशेष रूप से उन जैन श्रमणों के लिए जो निवृत्त्यात्मक साधना को ही जीवन का एक मात्र उच्चादर्श मान रहे थे। उनके जीवन-व्यवहार एवं आचार-नियमों को इस रूप में ढाला गया कि वे मुख्य रूप से अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष के समर्थक बन कर रह गये। जैनधर्म के प्राचीनतम आगम ग्रन्थों में ऐसे कुछ सन्दर्भ अवश्य हैं जो अहिंसा के इस नकारात्मक पहलू को ही प्रमुखता देते हैं। सूत्रकृतांग (1/11/18-20) में एक उल्लेख है कि जब मुनि से कोई गृहस्थ यह पूछे कि मैं दानशाला आदि बनवाना चाहता हूँ, इसमें आपकी क्या सम्मति है ? तो मुनि उस समय मौन रहें। सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि मुनि उसकी उस प्रवृत्ति का समर्थन करता है तो उसमें होने वाली पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि की प्रत्यक्ष हिंसा एवं द्वीन्द्रिय आदि जीवों की परोक्ष हिंसा का भागीदार बनता है। इसके विपरीत यदि वह उस दानादि की प्रवृत्ति का निषेध करता है तो वह उसके द्वारा से जिन प्राणियों का कल्याण, हित एवं सुख होने वाला है उसमें बाधक बनता है। अतः दोनों ही स्थितियों में कहीं न कहीं हिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कोई तत्त्व अवश्य ही रहता है। यही कारण था कि ऐसी स्थिति में उसे मौन रहने की सम्मति दी गयी। जैनागमों का यह प्रसंग एक ऐसा प्रसंग है जिसे सामान्य रूप से अहिंसा के नकारात्मक पक्ष की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किया जाता रहा है। किन्तु इस आधार पर जैनधर्म में अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या को स्वीकार करना भी एक भ्रान्ति ही होगी। क्योंकि हिंसा के अल्प-बहुत्व के विचार के साथ-साथ जैन आगमों में ऐसे भी उल्लेख हैं जो अनिवार्य बनी दो हिंसा में अल्प हिंसा को वरेण्य मानते हैं।

यह सत्य है कि सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवन-रक्षण सेवा, दान, परोपकार आदि के प्रयत्नों में कहीं न कहीं हिंसा का तत्त्व अवश्य उपस्थित रहता है, क्योंकि ये सब प्रवृत्त्यात्मक है। जहाँ प्रवृत्ति है वहाँ क्रिया (योग) होगी, जहाँ क्रिया होगी वहाँ आस्रव होगा और जहाँ आस्रव होगा वहाँ बन्ध भी होगा। जहाँ बन्ध होगा वहाँ हिंसा होगी, चाहे वह स्व-स्वरूप की हिंसा ही क्यों न हो ? बस इस तर्क शैली ने अहिंसा की निषेधमूलक व्याख्या को बल दिया।

प्रथम प्रश्न तो यह है कि क्या जैनधर्म एकान्त रूप से निवृत्त्यात्मक ही है ? दूसरे क्या समाधिमरण के अन्तिम क्षणों को छोड़कर जीवन में प्रवृत्ति का पूर्ण निषेध सम्भव है ? क्या महावीर का उपदेश एकान्त रूप से निवृत्ति या श्रमण जीवन के लिए ही है ? क्या जैनधर्म में जीवन के सभी रूप समान मूल्य एवं महत्त्व के हैं ?

**जैन दर्शन की अनेकान्तिक दृष्टि**

आये इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीरता से चर्चा करें। जैनधर्म और दर्शन मूलतः अनेकान्त दृष्टि पर अधिष्ठित है और अनेकान्त दृष्टि कभी भी एकपक्षीय नहीं होती। दूसरे जब तक जीवन है तब तक पूर्ण रूप से निवृत्ति सम्भव नहीं है। प्रवृत्ति प्राणीय जीवन या हमारे जातीय अस्तित्व का लक्षण है। गीता (3/5) में भी कहा गया है कि जीवन में कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता जिसमें प्राणी कर्म या क्रिया से पूर्णतः निवृत्त होते हैं। प्रवृत्ति प्राणी जीवन की अनिवार्यता है। जब तक हमारा सांसारिक अस्तित्त्व रहता है कहीं न कहीं प्रवृत्ति होती ही रहती है। पूर्ण निवृत्ति का आदर्श चाहे कितना ही उच्च क्यों न हो ? वह एक आदर्श ही है, यर्थाथ नहीं। जैनदर्शन के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के कुछ क्षण पूर्व के सांसारिक अस्तित्व को छोड़कर पूर्ण निवृत्ति का आदर्श कभी भी यर्थाथ नहीं बनता है। चाहे हम मुनि जीवन ही क्यों नहीं जिये-- पूर्ण अहिंसा का पालन तो वहाँ भी सम्भव नहीं है। शारीरिक गतिविधियाँ, श्वसन, आहार-विहार और शारीरिक मलों का विसर्जन सभी में कहीं न कहीं हिंसा होती तो अवश्य है। यर्थाथ जीवन में प्रवृत्ति से या क्रिया से पूर्ण रूप से निवृत्त हो पाना सम्भव ही नहीं है और यदि यह सम्भव नहीं है, तो ऐसी स्थिति में हमें प्रवृत्ति के उन रूपों को ही चुनना होगा, जिनमें हिंसा अल्पतम हो। जब प्रवृत्ति या हिंसा जीवन की एक अपरिहार्यता है, तो हमें यह विचारना होगा कि हमारी प्रवृत्ति की दशा ऐसी हो जिसमें हिंसा कम से कम हो। वह हिंसा कर्म आस्रव या कर्मबन्ध का हेतु न बने। यहीं से सकारात्मक अहिंसा को एक आधार मिलता है।

**सकारात्मक अहिंसा विष मिश्रित दूध नहीं है**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकारात्मक अहिंसा में निश्चित रूप से अंशतः हिंसा का कोई न कोई रूप समाविष्ट होता है किन्तु उसे विष मिश्रित दूध कहकर त्याज्य नहीं कहा जा सकता। उसमें चाहे हिंसा रूपी विष के कोई कण उपस्थित हो, किन्तु ये विष-कण विषौषधी के समान मारक नहीं तारक होते हैं। जिसप्रकार विष की मारक शक्ति को समाप्त करके उसे औषधी रूपी अमृत में बदल दिया जाता है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा में जो हिंसा या रागात्मकता के रूप परिलक्षित होते है, उन्हें विवेकपूर्ण कर्तव्य भाव के द्वारा बन्धन के स्थान पर मुक्ति के साधन के रूप में बदला जा सकता है। जिस प्रकार विष से निर्मित औषधी अस्वास्थकर न होकर आरोग्यप्रद ही होती है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा भी सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आरोग्यकर ही होती है। जब हम अपने अस्तित्व के लिए, अपने जीवन के रक्षण के लिए प्रवृत्ति और तद्जन्य आंशिक हिंसा को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर हमारे इस तर्क का कोई आधार नहीं रह जाता, कि हम सकारात्मक अहिंसा को इसलिए अस्वीकार करते हैं कि उसमें हिंसा का तत्त्व होता है और वह विष मिश्रित दूध है। अपने अस्तित्त्व के लिए की गई हिंसा क्षम्य है तो दूसरो के अस्तित्त्व या रक्षण हेतु की गई हिंसा क्षम्य क्यों नहीं होगी ?

पुनः दूसरों के अस्तित्व के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियों में हमें रागात्मकता लगे तो क्या अपने हेतु की गयी वृत्ति में रागात्मकता नहीं होगी। जब प्रवृत्ति या क्रिया से पूर्ण निवृत्ति सम्भव ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में क्रिया को वह रूप देना होगा जो बन्धन और हिंसा के स्थान पर विमुक्ति और अहिंसा से जुड़े। मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से की गई परोपकार की प्रवृत्ति ही ऐसी है जो हमारी प्रवृत्ति को बन्धक से अबन्धक बना सकती है।

यही कारण था कि जैन परम्परा में ईर्यापथिक क्रिया और ईर्यापथिक बन्ध की अवधारणा अस्तित्त्व में आयीं। ये बाह्य रूप से चाहे क्रिया और बन्ध कहे जाते हों, किन्तु वे वस्तुतः बन्धन के नहीं, विमुक्ति के ही सूचक हैं, तीर्थंकर की लोककल्याण की समस्त प्रवृत्तियाँ भी ईर्यापथिक क्रिया और ईर्यापथिक बन्ध मानी गयी है। उनका प्रथम समय में बन्ध होता है और द्वितीय समय में निर्जरा हो जाती है। इस प्रकार वीतराग पुरुष की प्रवृत्ति रूप क्रिया के द्वारा जो आस्रव और बन्ध होता है उसका स्थायित्व एक क्षण भी नहीं होता है। उत्तराध्ययनसूत्र (25/42) में कहा है कि जैसे गीली मिट्टी का गोला दीवाल पर फेंकने से चिपक जाता है किन्तु सूखी मिट्टी का गोला नहीं चिपकता, अपितु तत्क्षण गिर जाता है। यही स्थिति वीतराग भाव या निष्काम भाव से की गयी क्रियाओं की होती है। उनसे जो आस्रव होता है वह आत्मप्रदेशों से मात्र स्पर्शित होता है वस्तुतः बन्धक नहीं होता। बन्धन का मूल कारण तो राग-द्वेष या कषायजन्य प्रवृत्ति है। अतः निष्काम भाव से जो लोक-मंगल के लिए, दूसरों के दुःखहरण के हेतु सेवा, परोपकार आदि जो प्रवृत्ति की जाती है वह क्रिया रूप होकर के भी बन्धक नहीं है और इस प्रकार जो लोग "सकारात्मक अहिंसा" में बन्धन की सम्भावनाओं को देखते है उनका चिन्तन सम्यक् नहीं है।

**तीर्थंकरों की जीवन शैली और सकारात्मक अहिंसा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में तीर्थंकर का पद सर्वोच्च माना जाता है। उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन के जिन कारणों की चर्चा हुई उनमें हम देखते हैं कि सेवा और वात्सल्य मूलक प्रवृत्तियों को सबसे प्रमुख स्थान मिला है। उसमें वृद्ध, ग्लान-रुग्ण, बालक आदि की सेवा का स्पष्ट निर्देश है। यही नहीं परम्परागत रूप में तीर्थंकर जीवन की जिन विशेषताओं की जो चर्चा की जाती है उनमें हम पाते हैं कि प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षित होने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। यह अवधारणा स्वतः ही इस तथ्य की सूचक है कि दान और सेवा की प्रवृत्ति तीर्थंकरों के द्वारा आचरित एवं अनुमोदित है। जैन कथा साहित्य में यह बताया गया है कि भगवान शान्तिनाथ ने अपने पूर्वभव में एक कबूतर की रक्षा करते हुए अपने शरीर का मांस तक दे दिया था। इस प्रकार अन्य तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों में भी प्राणियों के जीवनरक्षण के साथ-साथ उनकी सेवा, दान आदि की प्रवृत्ति के उदाहरण देखे जा सकते हैं। स्वयं महावीर ने दीक्षित होने के पश्चात् न केवल निर्धन ब्राह्मण को अपना वस्त्र दान कर दिया, अपितु मिथ्यादृष्टि गोशालक की शीतलेश्या फेंक कर जीवन-रक्षा भी की।

मात्र यही नहीं केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी तीर्थंकर मात्र लोक कल्याण हेतु ही पदयात्रा करते हुए अपना प्रवचन देते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तीर्थंकर के जीवन में ऐसा कुछ शेष नहीं रहता जो उनके लिए प्राप्तव्य हो। प्रश्नव्याकरण में स्पष्ट कहा गया है कि-- "सव्व जग्गज्जीवरक्खण दयट्ठयाए पावयनं भगवया सुकहियं" (2/9) अर्थात् भगवान ने समस्त जागतिक जीवों के रक्षण और दया के हेतु ही अपना उपदेश दिया। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वीतराग परमात्मा में भी लोकमंगल व लोककल्याण की भावना उपस्थित रहती है। यदि यह लोकमंगल की वृत्ति रागात्मक होती तो फिर वीतराग में वह कैसे उपस्थित रह सकती थी। इसका एक तात्पर्य यह है कि संयमी जीवन में भी अपनी मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति लोकमंगल की प्रवृत्तियों से जुड़ा रह सकता है।

**क्या पुण्यकर्म बन्धन के हेतु है ?**

सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवों की रक्षा और सेवा तथा उस हेतु की जाने वाली दान-परोपकार आदि की प्रवृत्तियों के महत्त्व एवं और मूल्य को स्वीकारने में सबसे अधिक बाधक अवधारणा यह है कि परोपकार, सेवा और प्राणीकल्याण की अन्य सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य-बन्ध का हेतु है, निर्जरा का हेतु नहीं और बन्धन चाहे पुण्य का हो या पाप का वह बन्धन ही है और इसलिए अध्यात्मसाधना का विरोधी है। पुण्य को भी बन्धन का हेतु मानकर इन विचारकों ने अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा की। आचार्य कुन्द-कुन्द ने पुण्य और पाप का अन्तर स्पष्ट करते हुए पुण्य को सोने की और पाप को लोहे की बेड़ी कहा और अन्त में पुण्य और पाप दोनों से उपर उठने की बात कही है (समयसार 146)। यह सत्य है कि पुण्य और पाप की अधिकांश परिभाषाएँ इस अवधारणा पर खड़ी हैं कि जो दया और जीवन-रक्षण के जो कार्य हैं, वे पुण्य हैं और जो दूसरों के अहित और दुःख के कार्य हैं, वे पाप हैं। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि "परोपकारं पुण्याय पापाय परपीडनं।" गोस्वामी तुलसीदास ने भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है "परहित सरिस धर्म नहीं भाई। परपीडा सम नहीं अधमाई।।" यह सत्य है कि परोपकार पुण्य है और तत्त्वार्थसूत्र (6/2-4) में उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनों को आस्रव का एक भेद भी माना है और आस्रव को बन्ध का हेतु मानने के कारण बाद में यह अवधारणा दृढ़ीभूत हो गयी कि पुण्यबन्धन का ही हेतु है। किन्तु यह दृष्टिकोण जैनसिद्धान्त की दृष्टि से भी भ्रामक ही है। प्रथम तो सभी आस्रव वस्तुतः बन्धन के कारण नहीं होते हैं दूसरे यह मानना भी भ्रान्ति है कि पुण्य मात्र आस्रव है। प्राचीन आगमों में वह स्वतन्त्र तत्त्व है। वह आस्रव और बन्ध है तो साथ ही सँवर और निर्जरा भी है। जैन आचार्यों ने शुभयोग को सँवर माना है। वह निर्जरा भी है और निर्जरा का हेतु भी है। पुण्य तो उस साबुन के समान है जो पाप रूपी मल को निकालने के साथ स्वतः भी बिना प्रयास के निर्जरित हो जाता है। ज्ञातव्य है कि पाप बन्ध की निर्जरा करना होती है। पुण्य तो स्वतः निर्जरित हो जाता है।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है।जैन आचार्य क्रिया या आस्रव के दो भेद करते हैं-- 1. साम्परायिक और 2. ईर्यापथिक। ईर्यापथिक क्रिया के माध्यम से जो आस्रव होता है वह दूसरे समय में ही निर्जरित हो जाता है। जिस आस्रव जनित बन्ध की स्थिति एक समय भी सत्ता रूप नहीं रहती हो उसे बन्ध कहना मात्र औपचारिकता है, यर्थाथ में वह बन्ध नहीं है।

यह सत्य है कि यदि सेवा, परोपकार और जीवों के रक्षण के पीछे रागात्मकता का भाव है तो वे बन्धन के कारण हैं किन्तु सेवा, परोपकार और जीवों के रक्षण की सभी प्रवृत्तियाँ रागात्मकता से ही प्रेरित होकर नहीं होती है अपितु वह परपीडा के स्वसंवेदन के कारण भी होती है। जब दूसरों के प्रति आत्मवत् दृष्टि का विकास हो जाता है तो उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाती है और ऐसी स्थिति में जिस प्रकार अपनी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न होते हैं। उसी प्रकार दूसरों की पीड़ा को दूर करने के भी प्रयत्न होते हैं। ज्ञानात्मक दृष्टि से आत्मतुल्यता का विचार और भावात्मक दृष्टि से परपीडा का स्व-संवेदन स्वाभाविक रूप से लोक-कल्याण की प्रवृत्तियों को अर्थात् रक्षण, सेवा, दान, परोपकार आदि को जन्म देते हैं। अतः यह मानना भ्रान्त है कि लोक-कल्याण की सभी प्रवृत्तियों के पीछे राग-भाव होता है। व्यावहारिक जीवन में भी ऐसे अनेक अवसर होते हैं जब दूसरे प्राणी की पीड़ा से हमारी अन्तरात्मा करुणाद्र हो जाती है और हम उसकी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न करते हैं। वहाँ रागात्मकता नहीं होती है। वहाँ केवल विवेक-बुद्धि और परपीड़ा के स्व-संवेदन से उत्पन्न कर्त्तव्यता का भाव ही होता है, जो उस सकारात्मक अहिंसा का प्रेरक होता है। दूसरों के प्रति रागात्मकता में और कर्तव्य बोध में बड़ा अन्तर होता है। राग के साथ द्वेष अवश्य रहता है। जबकि कर्त्तव्य बोध में उसका अभाव होता है। किसी राहगीर की पीड़ा से जो हृदय द्रवित होता है, वह राग के कारण नहीं अपितु परपीड़ा के स्व-संवेदन या आत्मतुल्यता के भाव के कारण होता है। पालतू कुत्ते की पीड़ा को दूर करने में और किसी सड़क पर पड़े हुए कुत्ते की पीड़ा को दूर करने में अन्तर है। पहले में रागभाव है, दूसरे में मात्र परपीड़ा का आत्मसंवेदन। जब दूसरों के रक्षण, पोषण, सेवा और परोपकार के कार्य मात्र कर्त्तव्य बुद्धि अथवा परपीड़ा के आत्मसंवेदन से होते हैं, तो उनमें रागात्मकता का तत्त्व नहीं होता और यह सुस्पष्ट है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रागात्मकता के अभाव में चाहे कोई क्रिया कर्मास्रव का कारण भी बने तो भी वह बन्धन कारक नहीं हो सकती। क्योंकि उत्तराध्ययन (32/7) आदि जैन ग्रन्थों में बन्धन का मुख्य कारण राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही मानी गयी हैं। दूसरों के रक्षण और सम्पोषण के प्रयत्नों में चाहे किसी सीमा तक हिंसा की बाह्य प्रवृत्ति भी हो सकती है किन्तु वह यर्थाथ रूप में बन्धन का हेतु नहीं है। यदि हम ऐसी प्रवृत्तियों को बन्धन रूप मानेंगे तो फिर तीर्थंकर की लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों अर्थात् लोकमंगल के लिए विहार और उपदेश के कार्य को भी बन्धन को हेतु मानना होगा, किन्तु आगम के अनुसार उनका उपदेश संसार के जीवों के रक्षण के लिए होता है, वह बन्धन का निमित्त नहीं होता है।

**निष्काम कर्म बन्धक नही है ?**

इस समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि पुण्य कर्म यदि मात्र कर्तव्य बुद्धि से अथवा राग-द्वेष से उपर उठकर किये जाते हैं तो वे बन्धक नहीं हैं। पुण्यबन्ध का कारण केवल तभी बनता है जब वह रागभाव से युक्त होता है। ज्ञातव्य है कि अपने किसी परिजन के रक्षण के प्रयत्नों की और मार्ग में चलते हुए पीड़ा से तड़फड़ाते किसी प्राणी के रक्षण के प्रयत्नों की मनोभूमिका कभी भी एक ही स्तर के नहीं होती है। प्रथम स्थिति में रक्षण के समस्त प्रयत्न रागभाव से या ममत्वबुद्धि से प्रतिफलित होते हैं, जबकि दूसरी स्थिति में आत्मतुल्यता के आधार पर परपीड़ा का स्व-संवेदन होता है और यह परपीड़ा का स्व-संवेदन अथवा कर्त्तव्य बुद्धि ही व्यक्ति को परोपकार या पुण्य कर्म हेतु प्रेरित करती है।

जैन परम्परा में यहाँ सम्यक्दृष्टि जीव के आचारण के सम्बन्ध में कहा गया है--

*सम्यक् दृष्टि जीवडा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।*
*अन्तर सू न्यारो रहे ज्यू धाय खिलावे बाल।।*

यह अनासक्त दृष्टि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः अलिप्तता और निष्कामता ही एक ऐसा तत्त्व है, जो किसी कर्म की बन्धक शक्ति को समाप्त कर देता है। जहाँ अलिप्तता है, निष्कामता है, वीतरागता है, वहाँ बन्धन नहीं। जिस पुण्य को बन्धन कहा जाता है वह पुण्य रागात्मकता से निश्रित पुण्य है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि विश्व में समस्त प्रवृत्तियाँ राग से ही प्रेरित होती हैं। अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से फलित होती हैं। दूसरे की पीड़ा हमारी पीड़ा इसलिए नहीं बनती हैं कि उसके प्रति हमारा रागभाव होता है, अपितु आत्मतुल्यता का बोध ही हमारे द्वारा उसकी पीड़ा के स्व-संवेदन का कारण होता है। जब किसी दूसरे शहर में होते हैं और वहाँ पीड़ा से तड़फड़ाते किसी मानव को सड़क पर पड़ा हुआ देखते हैं तो हम करुणाद्र हो उठते हैं-- यहाँ कौन सा रागभाव होता है। जो लोग दूर-दराज के गाँवों में जाकर चिकित्सा शिविर लगवाते हैं-- उनमें जो भी रोगी आते हैं, क्या उनके प्रति शिविर लगवाने वाले व्यक्ति का कोई राग-भाव होता है ? वह तो यह भी नहीं जानता है उसमें कौन लोग आयेंगे, फिर उन अज्ञात लोगों के प्रति उसमें राग भाव कैसे हो सकता है ? अतः यह एक भ्रान्त धारणा है रक्षा, सेवा, परोपकार आदि प्रवृत्तियों के पीछे सदैव रागभाव होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जब राग नहीं होता है तो द्वेष भी नहीं होता है और जहाँ राग-द्वेष का अभाव होता है वहाँ बन्धन सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार एक डाक्टर जब किसी रोगी के सड़े हुए अंग का आपरेशन करके उसे निकालता है तो उसमें उस सड़े हुए अंग में निहित कीटाणुओं के प्रति द्वेष और रोगी के प्रति राग नहीं होता है। मात्र बचाने का भाव होता है। किसी प्यासे को पानी पिलाते समय हमें न तो जल के जीवों के प्रति द्वेष होता है और न प्यासे के प्रति राग। अतः सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियाँ राग-द्वेष से प्रेरित नहीं होती है अतः वे बन्धक भी नहीं होती है।

वस्तुतः सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवन-रक्षण, सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियाँ रागात्मकता पर आधारित न होकर "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना पर आधारित होती हैं। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की यह अनुभूति तब तक यर्थाथ नहीं बनती जब तक की व्यक्ति के लिए दूसरों के पीड़ा और दुःख अपने नहीं बन जाते। यद्यपि जैन दर्शन प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है किन्तु साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि संसार के सभी प्राणी मेरे ही समान हैं। आचारांगसूत्र (1/5/5) में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि "जिसे तू दुःख देना चाहता है वह तू ही है।" यहाँ विवेक और संवेदनशीलता के आधार पर ही "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना को खड़ा किया गया है। वह मात्र तार्किक नहीं है। जब तक संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् भाव उत्पन्न नहीं होता है तब तक अहिंसा का अंकुर प्रकट ही नहीं हो सकता। अहिंसा के लिए रागात्मकता नहीं आत्मवत् दृष्टि आवश्यक है। क्योंकि यदि रागात्मकता सकारात्मक अहिंसा का आधार होगी तो व्यक्ति केवल अपनों की सेवा में प्रवृत्त होगा, दूसरों की सेवा में नहीं। सकारात्मक अहिंसा अर्थात् रक्षा, सेवा आदि का आधार न तो प्रत्युपकार की भावना या स्वार्थ होता है और न राग। वह खड़ी होती है-- विवेकजन्य कर्तव्य बोध के आधार पर।

**क्या जीवन के सभी रूप समान महत्त्व हैं ?**

अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार यह अवधारणा रही कि जीवन के विविध रूप समान मूल्य और महत्त्व के हैं। परिणामस्वरूप जीवन के एक रूप बचाने में दूसरी रूपों की हिंसा अपरिहार्य होने पर जीवन-रक्षण के प्रयत्न को ही पाप या हिंसा में परिगणित कर लिया गया। यह सत्य है कि एक के जीवन के रक्षण एवं पोषण के लिये दूसरे जीवनों की कुर्बानी करनी ही पड़ती है। यदि हम एक वृक्ष या पौधे को जीवित रखना चाहते हैं तो उसे पानी तो देना ही होगा। वनस्पतिकाय के संरक्षण और वर्धन के लिए पृथ्वीकाय, अपकाय और वायुकाय की हिंसा अपरिहार्य रूप से होगी। यदि हम किसी त्रस प्राणी के जीवन-रक्षण का कोई प्रयत्न करते हैं, तो हमें न केवल वनस्पतिकाय की अपितु पृथ्वीकाय, अपकाय आदि की हिंसा से जुड़ना होगा। इस संसार में जीवन जीने की व्यवस्था ही ऐसी है कि जीवन का एक रूप दूसरे रूप के आश्रित हैं और उस दूसरे रूप के हिंसा के बिना हम प्रथम रूप को जीवित नहीं रख सकते। यह समस्या प्राचीन जैनाचार्यों के समक्ष भी आयी थी। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने हिंसा के अल्प-बहुत्व के सिद्धान्त के आधार पर किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा के अल्प-बहुत्व की यह अवधारणा मुख्यतः दो दृष्टि से विचारित की गयी है-- प्रथमतः उस हिंसा, अहिंसा के पीछे रही हुई मनोवृत्ति या प्रेरक तत्त्व के आधार पर जो दो प्रकार का हो सकता है-- 1. विवेक पर आधारित और 2. भावना पर आधारित और दूसरे प्राण-वध के स्वरूप के आधार पर। विवेक पर आधारित कर्म के प्रेरक तत्त्व या मनोभूमिका में मूलतः यह बात देखी जाती है कि वह कर्म क्यों किया जा रहा है। वह कर्तव्य बुद्धि से किया जा रहा है या स्वार्थ बुद्धि से। मात्र कर्तव्य बुद्धि से रागात्मकता के अभाव में जो कर्म किये जाते हैं वे ईर्यापथिक होते हैं। दूसरे शब्दों में उनके द्वारा होने वाला बन्धन यथार्थ में बन्धन नहीं होता है। इसके विपरीत जो कर्म स्वार्थ पूर्ति के लिए होते हैं वे कर्म बन्धक होते हैं। यह सम्भव है कि व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय हिंसा हो या उसे हिंसा करनी पड़े, किन्तु राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर मात्र कर्तव्य के परिपालन में होने वाली हिंसा बंधक या अनुचित नहीं होती। उदाहरण के रूप में जैन मुनि आवश्यक क्रिया करते समय, प्रतिलेखन करते समय या पद यात्रा करते समय जो शारीरिक क्रियायें करता है उसमें हिंसा तो होती है। चाहे कितनी ही सावधानी क्यों न रखी जाय ये सभी क्रियायें हिंसा से रहित नहीं है फिर भी इन्हें मुक्ति का ही साधन माना जाता है बन्धन का कारण नहीं। व्यावहारिक क्षेत्र में न्यायाधीश समाज व्यवस्था और अपने देश के कानून के अन्तर्गत कर्तव्य बुद्धि से अपराधी को दण्ड देता है यहाँ तक की मृत्यु दण्ड भी देता है। क्या हम न्यायाधीश को मनुष्य की हत्या का दोषी मानेंगें ? वह तो अपने नियम और कर्तव्य से बँधा होने के कारण ही ऐसा करता है। अतः उसके आदेश से हिंसा की घटना होने पर भी वह हिंसक नहीं माना जाता। अतः मनोभूमिका की दृष्टि से जब तक अन्तर में कषाय भाव या द्वेष-बुद्धि न हो तब तक बाह्य रूप में घटित हिंसा की क्रिया न तो बन्धक होती है और न अनुचित। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि बाहर में हिंसा की घटना घटित हो या न हो प्रमत्त या कषाय युक्त व्यक्ति नियमतः हिंसक ही होता है। इसके विपरीत बाह्य रूप से हिंसा की घटना घटित होने पर भी कषाय रहित अप्रमादी मुनि नियमतः अहिंसक ही होता है। इसलिए यह मानना कि सकारात्मक अहिंसा में बाह्य रूप से हिंसा की घटना होती है, अतः वह अनुचित है -- एक भ्रान्त दृष्टिकोण है। हिंसा की घटना घटित होने पर भी यदि कर्त्ता ने वह कर्म मात्र कर्तव्य बुद्धि से किया है, उसके मन में दूसरे को पीड़ा पहुँचाने का भाव नहीं है, तो वह हिंसक नहीं माना जा सकता। जो कर्म विवेकपूर्वक और निष्काम भाव से किये जाते हैं उनमें हिंसा अल्प या अत्यल्प होती है। भावना या रागात्मकता की स्थिति में भी जो प्रशस्त राग-भाव है उसमें हिंसा अल्प मानी गई है।

हिंसा-अहिंसा के अल्प-बहुत्व के विचार के सन्दर्भ में दूसरा दृष्टिकोण यह है कि यदि दो हिंसाओं के विकल्प में एक का चुनाव करना हो तो हमें अल्प हिंसा को चुनना होगा और उस अल्प हिंसा का आधार जैन आचार्यों ने प्राणियों की संख्या न मान कर उनके ऐन्द्रिक विकास को माना है। यदि हजारो एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा और एक पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में हिंसा के अल्प-बहुत्व का निर्णय करना हो तो जैनाचार्यों की दृष्टि में हजारों एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की अपेक्षा एक पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा अधिक भयंकर मानी गयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं महावीर के युग में भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि अनेक एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा का एक पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में कौन सी हिंसा अल्प है ? उनके युग में हस्ति-तापसों का एक वर्ग था जो यह कहता था कि हम तो वर्ष में केवल एक हाथी को मारते हैं और उसके मांस से पूरा वर्ष अपनी आजीविका की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार हम सबसे कम हिंसा करते हैं (सूत्रकृतांग 2/6/53-54)। इस विचारधारा का स्वयं महावीर ने खंडन किया और बताया कि यह अवधारणा भ्रांत है। भगवतीसूत्र में इस प्रश्न पर और भी अधिक गम्भीरता से विचार हुआ है। उसमें बताया गया है कि अनेक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा और उनमें भी एक ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट होती है (भगवतीसूत्र 9/34/106-107)। अतः जैन दृष्टिकोण से हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियों की संख्या पर नहीं उनके ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास पर निर्भर करता है। जब चुनाव दो हिंसाओं के बीच करना हो तो हमें चुनाव अल्प हिंसा का ही करना होगा और इसमें हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियों का संख्या पर नहीं उनके ऐन्द्रिक विकास पर ही निर्भर करेगा।

यदि हम एक ओर यह मानें कि अपने जीवन रक्षण हेतु हम एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा कर सकते हैं और उसका हमें अधिकार है और दूसरी ओर यह कहें कि चूँकि दूसरे प्राणियों के रक्षण, पोषण, सेवा आदि की प्रवृत्तियों में एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा जुड़ी हुई है अतः त्याज्य है, तो यह आत्म प्रवंचना ही होगी। गृहस्थ जीवन तो क्या मुनि जीवन में भी कोई व्यक्ति एकेन्द्रिय जीवों के प्रति पूर्ण अहिंसक नहीं हो पाता है। अतः एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचने के नाम पर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना न तो उचित है और न नैतिक ही। सकारात्मक अहिंसा इसलिए भी आवश्यक है कि हमारे सामाजिक जीवन का आधार है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" सामाजिक जीवन से अलग होकर उसके अस्तित्व की कल्पना ही दुष्कर है। सकारात्मक अहिंसक चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में हम समाज की कोई कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। समाज जब भी खड़ा होता है तब आत्मियता, प्रेम, पारस्परिक सहयोग और दूसरे के लिए अपने हित-त्याग के आधार पर खड़ा होता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि एक दूसरे का हित करना यह प्राणिय-जगत का नियम है (परस्परोपग्रहो जीवानाम -- तत्त्वार्थ 5) पाश्चात्य चिन्तकों की यह भ्रान्त अवधारणा है कि संघर्ष प्राणिय जगत को नियम है। जीवन का नियम संघर्ष नहीं, सहकार है। जीवन सहयोग और सहकार की स्थिति में ही अस्तित्व में आता है और विकसित है। यह सहयोग और अपने हितों का दूसरे के हेतु उत्सर्ग समाज-जीवन का भी आधार है। दूसरे शब्दों में समाज सदैव ही सकारात्मक अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। निषेधात्मक अहिंसा चो वैयक्तिक साधना का आधार हो किन्तु वह सामाजिक जीवन का आधार नहीं हो सकती। आज जिस अहिंसक समाज के रचना की बात कही जाती है। वह समाज जब भी खड़ा होगा सकारात्मक अहिंसा के आधार पर ही खड़ा होगा। जब तक समाज के सदस्यों में एक-दूसरे की पीड़ा को समझने और उसे दूर करने के प्रयत्न नहीं होंगे तब तक समाज अस्तित्व में ही नहीं आ पायेगा। सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि हमें दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन हो और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके प्रति आत्मीयता का भाव हो।

सामान्य रूप से इस आत्मीयता को रागात्मकता समझने की भूल की जाती है। किन्तु आत्मीयता एवं रागात्मकता में अन्तर है। रागात्मकता सकाम होती है उसके मूल में स्वार्थ का तत्त्व विद्यमान होता है, वह प्रत्युपकार की अपेक्षा रखती है, जबकि आत्मीयता निष्काम होती है, उसमें मात्र परार्थ की वृत्ति होती है। यही कारण था कि प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के जो विविध नाम दिये गये उसमें रति को भी स्थान दिया गया। यहाँ रति का अर्थ वासनात्मक प्रेम या द्वेषमूलक राग-भाव नहीं है यह निष्काम प्रेम है। वस्तुतः जब आत्मीयता का भाव प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखता हो और वह सार्वभौम हो, तो आत्मीयता कहलाता है। वस्तुतः जब तक अन्य जीवों के साथ समानता की अनुभूति, उनके जीवन-जीने के अधिकार के प्रति सम्मान-वृत्ति और उनकी पीड़ाओं का स्व-संवेदन नहीं होता तब तक अहिंसक चेतना का उद्भव भी नहीं होता। अहिंसक चेतना का मूल आधार आत्मीयता की अनुभूति है। वह सार्वभौमिक प्रेम है। वह ऐसा राग-भाव जिसमें द्वेष का कोई अंश ही नहीं होता है। जिसमें संसार के समस्त प्राणी "स्व" ही होते हैं, "पर" कोई भी नहीं होता है। वस्तुतः ऐसा राग, राग ही नहीं होता है। राग सदैव द्वेष के सहारे जीवित रहता है। द्वेष, स्वार्थ और प्रत्युपकार की आकांक्षा से रहित जो राग-भाव है वह सार्वभौमिक प्रेम होता है, वही आत्मीयता है और यह आत्मीयता ही सामाजिकता का आधार है।

घृणा, विद्वेष और आक्रामकता की वृत्तियाँ सदैव ही सामाजिकता की विरोधी है। वे हिंसा का ही दूसरा रूप है। ये वृत्तियाँ जब भी बलवती होगी, सामाजिकता की भावना ही समाप्त होगी, समाज ढह जावेगा। समाज जब भी खड़ा होगा तब वह न तो हिंसा के आधार पर खड़ा होगा और न मात्र निषेधमूलक निरपेक्ष अहिंसा के आधार पर। वह हमेशा सकारात्मक अहिंसा के आधार पर ही खड़ा होगा। यद्यपि हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार सकारात्मक अहिंसा के सम्पादन में निरपेक्ष-अहिंसा या पूर्ण-अहिंसा का परिपालन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी निरपेक्ष अहिंसा या पूर्ण अहिंसा परिपालन सम्भव नहीं है। समाज जीवन का आधार जो सकारात्मक अहिंसा है, वह सापेक्ष अहिंसा या सापवादिक अहिंसा है। समाज-जीवन के लिए समाज के सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहाँ अस्तित्त्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न होता है वहाँ निरपेक्ष अहिंसा संभव नहीं होती। समाज-जीवन में हितों में टकराहट स्वाभाविक है। अनेक बार एक का हित, दूसरे के अहित पर ही निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में समाज जीवन में या संघीय जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार नहीं हो पाता है, उसमें अपवाद को मान्य करना ही होता। जब वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों में संघर्ष की स्थिति हो तो हम पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर तटस्थ दृष्टा नहीं बने रह सकते हैं। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितो में संघर्ष हो तो हमें समाज हित में वैयक्तिक हितों का बलिदान करना ही होगा। फिर चाहे वे हित हमारे स्वयं के हो या किसी अन्य के। सकारात्मक अहिंसा का सिद्धान्त हमें यही सीखाता है कि हम किसी महान हित के लिए क्षुद्र हितों को बलिदान करना सीखें। समाज-जीवन में ऐसे अवसर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आते हैं, जब व्यक्ति अपने क्षुद्र हितों का बलिदान स्वतः नहीं करता है तो उससे बलात् भी करवाना पड़ता है। जब कोई समाज, राष्ट्र या उसका कोई सदस्य या वर्ग अपने क्षुद्र हितों की पूर्ति के लिए हिंसा अथवा अन्याय पर उतारू हो जाय, तो निश्चय पूर्ण अहिंसा की दुहाई देकर तटस्थ दृष्टा बने रहने से कोई काम नहीं चलेगा। जब तक जैनाचार्यों द्वारा उद्घोषित सम्पूर्ण मानव समाज की एकता की कल्पना पूर्ण साकार नहीं होती है, जब तक सम्पूर्ण समाज अहिंसा पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता, तब तक मानव समाज में पूर्ण अहिंसा या निरपेक्ष अहिंसा के परिपालन का दावा करना सम्भव नहीं है।

जैनधर्म जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करता है उसमें भी जब संघ की अथवा संघ के एक सदस्य की सुरक्षा का प्रश्न आया तो जैन आचार्यों ने सापेक्षिक या सापवादिक अहिंसा को ही स्वीकार किया। जैन साहित्य में आचार्य कालक और गणाधिपति चेटक के उदाहरण इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। निशीथचूर्णि (गाथा 289) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब संघ की सुरक्षा अथवा किसी सती स्त्री के सतीत्व के रक्षण का प्रश्न हो तो गृहस्थ ही नहीं, मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसी स्थिति में बाह्य रूप से हिंसा की जो घटना घटित होती है, उसे चाहे द्रव्य हिंसा की दृष्टि से हिंसा कहा जाय, किन्तु यदि उसमें कर्त्ता की वृत्ति में निजी स्वार्थ और अपराधी के प्रति द्वेष भाव नहीं है, तो ऐसी हिंसा वस्तुतः अहिंसा ही है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक वृत्तियों में आस्था रखता हो, यह सोचना व्यर्थ है कि सामुदायिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। जो लोग सकारात्मक अहिंसा अर्थात् रक्षण, सेवा सहकार आदि जीवन मूल्यों को केवल इस आधार पर अमान्य करते हैं कि उनसे निरपेक्ष या पूर्ण अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है। उनकी यह अवधारणा उचित नहीं कही जा सकती है।

निशीथचूर्णि में अहिंसा के जिन अपवादों की चर्चा है उन्हें चाहे कुछ लोग साध्वाचार के रूप में सीधे मान्य न करना चाहते हों किन्तु क्या यह नपुंसकता नहीं होगी कि जब किसी मुनिसंघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे पूर्ण अहिंसा के परिपालन की दुहाई देकर तटस्थ दृष्टा बने रहे? क्या उनका कोई सामाजिक दायित्व नहीं है ? हिंसा-अहिंसा का प्रश्न निरा-वैयक्तिक नहीं है। जब तक सम्पूर्ण मानव समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर नहीं होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा पूर्ण अहिंसा का उद्घोष कोई अर्थ नहीं रखता। अधिक क्या कहें, यदि सम्पूर्ण समाज षड्जीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा के आदर्श के परिपालन की बात करने लगे तो क्या जैनमुनि संघ का भी कोई अस्तित्व रहेगा। अतः पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना कथंपि उचित नहीं मानी जाती। संरक्षणात्मक व सुरक्षात्मक प्रयासों में जो हिंसा की बाह्य घटनायें होती हैं वे सामाजिक जीवन के लिए अपरिहार्य है।

**अहिंसा में अपवाद मानने वालों को सकारात्मक अहिंसा निषेध का अधिकार नहीं**

पुनः हिंसा और अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से तो आंतरिक है। बाह्यरूप में हिंसा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर भी राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठा अप्रमत्त मनुष्य अहिंसक है। जबकि बाह्य रूप में हिंसा न होने पर भी प्रमत्त मनुष्य हिंसक ही है। एक ओर सकारात्मक अहिंसा को केवल इसलिए अस्वीकार करना कि उसमें कहीं न कहीं हिंसा का तत्त्व होता है किन्तु दूसरी ओर अपने अथवा अपने संघ और समाज के अस्तित्व के लिए अपवादों की सृजना करना न्यायिक दृष्टि से संगत नहीं है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि किसी मुनि के वैयक्तिक जीवन अथवा मुनि संघ के अस्तित्व के लिए अहिंसा के क्षेत्र में कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि लोककल्याण या प्राणीकल्याण के लिए जो प्रवृत्तियाँ संचालित की जाती हैं, उनमें भी अहिंसा के कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते हैं।

पुनः जो गृहस्थ षट्जीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा का व्रत ग्रहण नहीं करता है और जो न केवल अपने लिए, अपितु अपने परिजनों के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से पूर्णतः विरत नहीं है अथवा जो त्रस प्राणी की संकल्पजा हिंसा को छोड़कर आरम्भजा, उद्योगजा और विरोधजा हिंसा का पूर्ण त्यागी नहीं है, उसे दूसरे जीवों के रक्षण-पोषण और उनकी पीड़ा के निवारण के प्रयत्नों को केवल यह कहकर नकारने का कोई अधिकार नहीं है कि उनमें हिंसा होती है।

हिंसा और अहिंसा के सीमा-क्षेत्र को सम्यक् रूप से समझने के लिए हमें हिंसा के तीन रूपों को समझ लेना होगा-- 1. **हिंसा की जाती है**, 2. **हिंसा करनी पड़ती है** और 3. **हिंसा हो जाती है**। हिंसा का वह रूप जिसमें हिंसा की नहीं जाती वरन् हो जाती है -- हिंसा की कोटि में नहीं आता है, क्योंकि इसमें हिंसा का संकल्प पूरी तरह अनुपस्थित रहता है, मात्र यही नहीं, हिंसा से बचने की पूरी सावधानी भी रखी जाती है। हिंसा के संकल्प के अभाव में एवं सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी यदि अन्य प्रवृत्तियों के करते हुए कोई हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा के सीमाक्षेत्र में नहीं आती है। हमें यह भी समझ लेना होगा कि किसी एक संकल्प की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रिया के दौरान सावधानी के बावजूद अन्य कोई हिंसा की घटना घटित हो जाती है तो व्यक्ति ऐसी हिंसा का उत्तरदायी नहीं माना जाता है। जैसे-- यदि गृहस्थ उपासक द्वारा भूमि जोतते हुए किसी त्रस-प्राणी की हिंसा हो जाय अथवा किसी मुनि के द्वारा पदयात्रा करते हुए त्रसप्राणी की हिंसा हो जाय तो उन्हें उस हिंसा के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उनके मन में उस हिंसा का कोई संकल्प ही नहीं है। अतः ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है। जैन परम्परा में हिंसा के निम्न चार स्तर माने गये हैं -- 1. संकल्पजा, 2. विरोधजा, 3. उद्योगजा, 4. आरम्भजा। इनमें "संकल्पजा" हिंसा वह है जो की जाती है। जबकि विरोधजा, उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा, हिंसा की वे स्थितियाँ हैं जिनमें हिंसा करनी पड़ती है। फिर भी चाहे हिंसा की जाती हो या हिंसा करनी पड़ती हो, दोनों ही अवस्थाओं में हिंसा का संकल्प या इरादा अवश्य होता है, यह बात अलग है कि एक अवस्था में हम बिना किसी परिस्थितिगत दबाव के स्वतन्त्ररूप में हिंसा का संकल्प करते हैं और दूसरे में हमें विवशता में संकल्प करना होता है। फिर भी पहली अधिक निकृष्ट कोटि की है क्योंकि आक्रमणात्मक है। यह अनर्थ दण्ड है, अर्थात् अनावश्यक है, वह या तो मनोरंजन के लिए की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती है या शासन करने के लिए, या स्वाद के लिए। हिंसा का यही रूप ऐसा है जो सबके द्वारा छोड़ा जा सकता है, क्योंकि यह हमारे जीवन जीने के लिए जरूरी नहीं है। हिंसा का दूसरा रूप जिसमें हिंसा करनी पड़ती है, हिंसा तो है किन्तु इसे छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक है, अर्थदण्ड है। वे सभी गृहस्थ उपासक जो अपने स्वत्वों का रक्षण करना चाहते हैं, जो जीवन जीने के लिए उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए हैं, जो समाज, संस्कृति और राष्ट्र की सुरक्षा एवं विकास का दायित्व लिये हुए हैं इससे नहीं बच सकते। न केवल गृहस्थ उपासक अपितु मुनिजन भी, जो किसी धर्म, समाज एवं संस्कृति के रक्षण, विकास एवं प्रसार का दायित्व अपने ऊपर लिये हुए हैं, इस प्रकार की अपरिहार्य हिंसा से नहीं बच सकते हैं। यह सत्य है कि सामाजिक जीवन में दूसरे प्राणियों के जीवन-रक्षण, पोषण, सेवा आदि में भी एकेन्द्रियादि कुछ जीवों की हिंसा सम्भावित है, किन्तु इस हिंसा के भय से सकारात्मक अहिंसा की अवहेलना करना योग्य नहीं है। वह गृहस्थ के लिये एक कर्त्तव्य है और उसे निष्काम भाव से उसे करना है।

**सकारात्मक अहिंसा में घटित हिंसा, हिंसा है**

फिर भी यह आवश्यक है कि हम ऐसी हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहें, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जायेगा। विवशता में चाहे हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जावेगी जैसे कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध कर सकेंगे, साथ ही हमारी अहिंसा विधायक बन कर मानव समाज में सेवा और सहयोग की गंगा भी बहा सकेगी।

साथ ही जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आंकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है-- 1. प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और 2. उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यता मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों में भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। सम्भवतः हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चीटियों के प्रति तो संवेदनशील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति हिंसा को सकारात्मक बनाना है।

जैनधर्म में अहिंसा के सकारात्मक पक्ष का महत्त्व एवं स्थान प्राचीनकाल से ही रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीनकाल से लेकर वर्त्तमान काल तक कुछेक अपवादों को छोड़कर सभी जैनाचार्यों ने सकारात्मक अहिंसा के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार किया है। वे सदैव ही गृहस्थ के लिए उसे आचरणीय मानते रहे हैं। आज चाहे भारत में जैनों की संख्या मात्र 1% हो किन्तु उनके द्वारा संचालित चिकित्सालयों, पशु-पक्षी चिकित्सालयों, गोशालाओं, पांजरापोलों, विद्यालयों और महाविद्यालयों की संख्या कहीं अधिक है। आज देश में इस प्रकार की लोकमंगलकारी प्रवृत्तियों में जुड़ी हुइ जो संस्थाएँ अथवा ट्रस्ट हैं, उनमें लगभग 30% जैनों के द्वारा संचालित है। अकालादि के अवसरों पर प्राणियों के रक्षार्थ जैन समाज का जो योगदान होता है। उसे कोई भी नहीं भुला पाता। जब भी मानव समाज ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों के भी जीवनरक्षण का प्रश्न आया है, जैन समाज ने सदैव ही उसमें आगे बढ़कर हिस्सा लिया है। जैन समाज में आज भी अनेक ऐसे मूक कार्यकर्त्ता हैं जो तन-मन-धन से लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों में अपना योगदान देते हैं। इसके पीछे सदैव ही जैन आचार्यों-मुनिजनों की प्रेरणा निहित रही। जैनधर्म में अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष का कितना मूल्य और महत्त्व है इसके लिए हम अपनी ओर से कुछ न कह कर प्रश्न-व्याकरणसूत्र के ही निम्न वचन उद्धृत करना चाहेंगे।

*एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं,*
*पक्खीणं विव गमणं,*
*तिसियाणं विव सलिलं,*
*खुहियाणं विव असणं,*
*समुद्दमज्झे व पोयवहणं,*
*चउप्पयाणं व आसमपयं,*
*दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं,*
*अडवीमज्झे व सत्थगमणं,*
*एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी।*

यह अहिंसा भगवती जो है, सो
(संसार के समस्त) भयभीत प्राणियों के लिए शरणभूत है,
पक्षियों के लिए आकाश में गमन करने -- उड़ने के समान है,
यह अहिंसा प्यास से पीड़ित प्राणियों के लिए जल के समान है,
भूखों के लिए भोजन के समान है,
समुद्र के मध्य में डूबते हुए जीवों के लिए जहाज के समान है,
चतुष्पद-- पशुओं के लिए आश्रम-स्थान के समान है,
दुःखों से पीड़ित-- रोगीजनों के लिए औषध-बल के समान है,
भयानक जंगल में साथ-- सहयोगियों के साथ गमन करने के समान है।

मात्र यही नहीं, भगवती अहिंसा तो इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, यह त्रस और स्थावर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी जीवों का क्षेम। कुशल-मंगल करने वाली है।

यह लोक-मंगलकारी अहिंसा जन-जन के कल्याण में तभी सार्थक सिद्ध होगी, जब इसके सकारात्मक पक्ष को उभार कर जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा और करुणा एवं सेवा की अन्तश्चेतना को जागृत किया जावेगा। मानव समाज में से हिंसा, संघर्ष और स्वार्थपरता के विष को तभी समाप्त किया जा सकेगा, जब हम दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन करेंगे, उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा बनेगी। इससे अहिंसा की जो धारा प्रवाहित होगी, वह सकारात्मक होगी और करुणा, मैत्री सहयोग एवं सेवा की जीवन मूल्यों को विश्व में स्थापित करेगी।

प्रस्तुत कृति में श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष को अधिक स्पष्टता और आगमिक प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। श्री कन्हैया लाल जी लोढ़ा जैन-दर्शन के गम्भीर, अध्येता हैं। उनकी लेखनी से प्रसूत यह ग्रन्थ अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल होगा। कृति के प्रारम्भ में श्री देवेन्द्रराज मेहता का संक्षिप्त प्राक्थन भी महत्त्वपूर्ण है। वे रोगियों और समाज के उपेक्षित एवं प्रताड़ित वर्ग की सेवा के कार्य में प्रारम्भ से ही जुड़े हुए हैं, वे सकारात्मक अहिंसा की जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। प्रस्तुत कृति का प्रणयन भी उन्हीं की प्रेरणा से हुआ है। कृति के उत्तरार्द्ध में विभिन्न विचारकों के विचारों का संकलन किया गया है। इससे भी अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की पुष्टि में सहयोग मिलेगा।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से जन-जन में निष्काम प्रेम, करुणा और सेवा की भावना जागृत हो एक इसी आशा के साथ... ।

---

* प्रो. सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org